2

दो संभावनाएँ

शारदा कुमारी*

आज प्रत्येक लड़की पढ़ना चाहती है, आगे बढ़ना चाहती है। आज हर लड़की का सपना है कि वह आसमान की बुलंदियों को छू ले। लेकिन यह सपना तभी साकार हो सकता है जब कोई उसे समझे, उसके समक्ष कोई मुश्किल है तो उसका सामना करने के लिए उसका साथ दे, उसे हिम्मत बँधाए। उसमें यह विश्वास जगाए कि उसके सपनों का संसार ज़रूर साकार होगा क्योंकि उसमें असीमित क्षमता है, अपार संभावनाएँ हैं। ऐसी ही दो संभावनाओं के बारे में पढ़िए यह लेख–

चाहतें अभी बाकी हैं...

रात की स्याही अभी दूर-दूर तक फैली है। उजास फूटने में देर है अभी। सुबह के समय जीव जगत् में होने वाली हलचलों का दूर-दूर तक कोई नामोनिशान नहीं है। घास-फूस, पेड़-पौधे, कीट-पतंगे सभी नींद के आगोश में हैं। पर एक जीव है जिस पर नींद का कोई असर नहीं है। बरामदे से आती हुई मद्धिम-सी रोशनी का सहारा लेकर किताब के वर्क उलट-पुलट रही है। पैंसिल की नोक से कभी सिर खुजलाती है तो कभी छोटी अँगुली कान में डाल ज़ोर से घुमाती है। कान खुजलाने की इस कवायद से हाथ में पहनी चूड़ियाँ खनखना उठती हैं।

रात की नीरवता को भंग करती हुई यह खनखनाहट घर के किसी भी सदस्य के लिए नई नहीं है। शयन कक्ष से अलसाई-सी आवाज़ आती है, "सोती क्यों नहीं अलीशा? चार अक्षर क्या पढ़ा दिए तुम्हें, तुम तो पुराण ही लिखने लगीं। चल सो जा जाकर।"

गृहस्वामिनी की मीठी-सी झिड़की सुन अलीशा झट से कॉपी-किताब एक किनारे रख सोने का उपक्रम करती है, मानो बहुत देर से सो रही हो।

कौन है ये अलीशा? जानना चाहेंगे न आप। काजल की कालिमा से भी कहीं अधिक गहराते रंग और बर्छी से पैने नाक-नक्श वाली अलीशा,

* *वरिष्ठ प्रवक्ता*, मंडलीय शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, आर.के.पुरम, नयी दिल्ली

उम्र कोई 14–15 साल, दिल्ली के मध्यमवर्गीय परिवार में घरेलू सेविका के रूप में काम करती है।

अलीशा की उम्र (14–15 वर्ष) पढ़ते ही शायद आप इस मध्यमवर्गीय परिवार को कोसने लगे जहाँ यह घरेलू सेविका का काम करती है। आप कह सकते हैं, "यह तो सरासर अन्याय है। यह बाल श्रम है। इस परिवार ने इस बच्ची को काम पर रख कैसे लिया?" हो सकता है उतावले होकर आप उस परिवार के विरूद्ध शिकायत दर्ज़ करने चल पड़ें। ऐसा न करें। पूरी बात पढ़-समझ लें।

अलीशा झारखंड के चौरापाट गाँव की निवासिनी है। अपने पिता गुजवा मुड़ा और माँ नीला महिमा साथ में तीन छोटी बहनें, सबके साथ मज़े की जिंदगी जी रही थी अलीशा। भोर होते ही पिता के साथ खेत पर चले जाना, छुटकन-पुटकन हाथों से जो भी बन पड़ता करती, फिर घर आकर ढोर-डंगर को चारा, पानी देना। न जाने कितने काम थे अलीशा के सिर पर। फिर भी मज़ाल है कि स्कूल से छुट्टी कर ले। न कभी खुद छुट्टी की और न बहनों को करने दी और लड़कियाँ भी थीं चौरापाट में। वे भी सब यही करतीं, जो अलीशा करती थी। पर अलीशा और उन लडकियों में एक बहुत बड़ा फ़र्क था। और लड़कियों की कल्पनाओं की उड़ानें काज़ल, बिंदी, गोदना, झूला, चिक्कनपो (खेल का नाम) और ब्याह तक आकर थम जाती थी। उसे लगता था कि किताबें उसे अपने पास बुलाती हैं। वह किताबों में टँके शब्द वाक्यों की गहराई जानना चाहती थी। इसलिए स्कूल जाना उसकी नियमित दिनचर्या का अंग था।

तीन साल तो हो गए थे उसे स्कूल जाते-जाते, शायद उससे भी अधिक पर अभी भी वह किताबों के तिलिस्मी किलों को भेद नहीं पाई थी। सीधी तरह से कहें तो अभी पढ़ने की शुरुआत नहीं हो पाई थी। होती भी कैसे? स्कूल में एक सर जी और एक मैडम जी दो ही तो अध्यापक थे। सर जी सारे काम बाहर के निपटाते। मैडम जी बच्चों को भोजन बँटवाती-बाँटती। थोड़ा बहुत चिल्वाती जैसे कि दू एक का दू, दू दू के छार, दू तीन के छौ। सभी को लगता कि पढ़ाई इसे ही कहते हैं। पर अलीशा जानती थी कि "पढ़ना" तो कुछ और ही है और उसी उम्मीद में वह रोज़ कॉपी-किताबें समेटे अपनी बहनों के साथ स्कूल जा पहुँचती।

एक दिन की बात है। बच्चे रोज़ की तरह स्कूल के अहाते में जमा थे अपनी-अपनी

टाटपट्टी, बस्ते, झाड़ू सहित (स्कूल बुहारने के लिए बच्चे झाड़ू घर से ही लाते थे) सूरज एकदम सिर पर चढ़ आया था पर मैडम थी कि आने का नाम ही न लेती थीं। दिन बीतते-बीतते पता चला कि उनका तो "*टिरोंसवर*" (ट्रांसफर) हो गया है, कोई नई मैडम या सर जी आवेंगे। एक माह, दो माह और अब तीसरा महीना भी बीतने को था पर नए टीचर का अता-पता न था। टीचर की जगह शहर से कोई पतरस बाबू आए। चार पाँच लड़किनी और ढेर से लड़के संग ले गए। पता चला कि वहाँ ये सब कोठियों में काम करेंगे। पतरस बाबू सबके माँ-बाप को महीना के महीना कुछ पैसा देने लगे। किसी -किसी के बच्चे ने शहरी धोती, पैंट, रिबन और न जाने क्या-क्या भेजा। इन चीज़ों से परिवार की रोटी का जुगाड़ हो जाता था।

अलीशा व उसकी बहन पर भी पतरस बाबू की निगाह थी। वे भी शहर पहुँच गई। उसे कहा गया था कि वह वहाँ पढ़ सकेगी।

पढ़ना तो दूर की बात यहाँ तो दिन बर्तन माँजते, चौका आदि करते बीतता और गृहस्वामी की लोलुप नज़रों से खुद को बचाने में। अलीशा को मालूम न था कि उसकी बहन को किस घर में भेजा गया है। बस इतना पता था कि महीना दो महीना बाद पतरस बाबू उसे मिलाने लाएँगे।

वह उस तारीख का इंतजार ज़रूर करती, पर गृहस्वामी की कलुषित हरकतों से बचने के लिए वह वहाँ से भाग ली। अनजाना शहर, अनजानी सड़कें, न जाने क्या सोचकर भागी थी। बस इतना पता है कि वह जी.टी. करनाल रोड के बाईपास पर गठरी-सी पड़ी मिली। उसे घर लाने का जोखिम तो लिया था पर न भी लाते तो दिल नहीं मानता था। घर पहुँचते ही अलीशा काँपते होठों से बोली यहाँ कोई मुझे ....तो नहीं?

सुरक्षात्मक माहौल पाकर अलीशा सामान्य हो चली थी। एक दिन झिझकते हुए बोली, "सुरभि दीदी की तरह क्या मैं भी पढ़ सकती हूँ?"

इससे पहले सुरभि बता चुकी थी कि वह उसकी पुस्तकों को उलटती-पुलटती रहती है और बड़ी चाहत भरी निगाहों से देखती है। कभी-कभी वह पुस्तकों पर लिखे नामों पर अंगुलियाँ भी घुमाती है। अलीशा का बस्ता तैयार कर दिया गया। शुरू हुआ पढ़ाई का सिलसिला।

माताजी के पैरों पर तेल मला जा रहा है तो उन पर अक्षर-शब्द उकेरे जाते। घर का सामान झाड़ा-पोछा जा रहा है तो हवा में वाक्य लिखे जा रहे हैं। सुरभि दीदी के साथ कुत्ते को घुमाने जाना है तो पुस्तक-पैंसिल साथ हैं।

कहने का मतलब है कि कोई भी समय हो, 'पढ़ना' ज़रूरी था जबकि उसके लिए पूरे चार घंटे अलग से तय थे। माताजी के लिए अखबार उठाती तो उस पर छपे मोटे-मोटे वाक्य पूछती कि ये क्या लिखे हैं, उन्हें मन ही मन दोहराती, फिर काम करते-करते हवा में लिखने का अभ्यास करती। साबुन, आटा, मसाले सबके थैले आते उन पर लिखे शब्दों के बारे में पूछती। माताजी भी धैर्य के साथ उसे इबारतों

को पढ़ने में मदद करतीं। एक दिन तो कमाल ही हो गया जब उसने अपने माता-पिता, गाँव का नाम लिख कर दिया। यहाँ पाठकों को बताना चाहेंगे कि इन्हीं नामों के ज़रिए उसके माता-पिता तक पहुँचा जा सका था। जो अपने आप में एक कहानी है।

किशोरावस्था में जो भूख खाने-पीने मौजमस्ती के लिए होती है, अलीशा में वह भूख पढ़ाई को लेकर थी। तनिक-सा समय मिला नहीं कि पुस्तक हाथ में। एकाध बार तो माताजी दबी ज़ुबान कह उठीं, "हमारे बच्चों में पढ़ने को लेकर इतनी ललक क्यों नहीं? ऐ मुसीबत दी मारी जेणे वेले वेख्यो पढ़दी पई ए ते साडे बच्चे दूध-मक्खन खाके वी नलायक टी.वी., मुबाइल विच वड़े रहदें हैन।"

ऐसा भाव आने पर भी अलीशा को पढ़ने के लिए भरपूर समय मिलता और उसे नई से नई छोटी-छोटी कहानियों की किताबें लाकर दी जातीं।

आज स्थिति यह है कि वह माताजी की निजी सहायक बन गई है। उनकी ओर से लिखी जाने वाली चिट्ठियाँ वह ही लिखती है। मसालों के डिब्बों पर चिट लिख कर लगाना, घर का हिसाब-किताब लिखना, माताजी की डायरी में उनके कामों की सूची बनाना, सुरभि दीदी के मित्रों के नामों की फेहरिस्त बनाना सब कुछ उसके ज़िम्मे है।

उसका कहना है कि तीन साल तक स्कूल में वह एक अक्षर न चीन्ह पाई और यहाँ तीन महीने में ही वह इतना सब कुछ कर पाई। मुझे तो यह करिश्मा लगता है। मैं अलीशा की कहानी हर उस अध्यापक के साथ साझा करना चाहती हूँ जो यह कहते हैं कि हमारे स्कूलों में आने वाले बच्चे इसलिए नहीं पढ़ सकते क्योंकि वे 'फर्स्ट जैनरेशन लर्नर' हैं, वे झुग्गी-झोपड़ी वाले बच्चे हैं।

अलीशा के माता-पिता तो क्या उसके पूरे गाँव में कोई भी पढ़ी-लिखी नहीं है। यह भी सच है कि तीन वर्ष स्कूल में बिताने के बाद भी वह एक अक्षर भी नहीं पढ़ पाती थी और यह भी सच है कि तीन माह के भीतर वह इतना सीख गई है कि पाँचवी की *रिमझिम* पढ़ लेती है, समझ के साथ। अध्यापकों के साथ-साथ बड़े-बड़े शिक्षाविदों को भी यह बात अतिशयोक्ति से भरी लग सकती है।

असल में अलीशा की पढ़ना सीखने को लेकर अदम्य उत्कंठा, घर में यत्र-तत्र बिखरी पठन सामग्री और माताजी का विश्वास कि 'तुम पढ़ना सीख सकती हो' इन सबने जादू की तरह काम किया।

अलीशा ने भूगोल, इतिहास, गणित आदि विषय नहीं पढ़े हैं, पर लेखन में वह मेरे उन विद्यार्थियों से आगे ही है जो बारहवीं में 95% अंक लेकर हमारे संस्थान में दाखिला पाते हैं।

अलीशा की उमंगें अभी थमी नहीं हैं। अपनी इस सफलता पर वह स्वयं चमत्कृत है। उसकी दो-तीन योजनाएँ हैं-पहली तो अपनी बहन को ढूँढ़ने की, दूसरी अपने गाँव जाकर स्कूल खोलने की और माता-पिता को जागरूक करने की कि अपनी लड़कियों को काम के लिए शहर न भेजें।

वह माताजी से रोज आग्रह करती है कि वे

उसके गाँव चलकर स्कूल खुलवा दें और उसी तरीके से पढ़ना सिखाएँ जैसे उसे सिखाया गया। माताजी तो एकबारगी तैयार भी हो गईं पर जब हम सबने कहा कि वहाँ तो डाक्टर आदि की कोई सुविधा नहीं है तो अलीशा का कहना था, "अपनी माँ के लिए सोचते हो, पूरे गाँव के लिए नहीं?"

इस पर मन में पहला भाव तो यही आया, "मेरी बिल्ली, मुझे ही म्याऊँ।" पर दूसरा ख्याल यही आया कि एक नहीं कई अलीशाएँ पैदा होनी चाहिए।

जहाँ चाह है

रेल चली भई छक्कम-छक
भक-भक-भक, छक-छक-छक
रेल का इंजन बनती कौन?
सलमा प्यारी और कौन
सबसे आगे दौड़े कौन?
सलमा प्यारी और कौन
सलमा के पीछे चलते कौन?
हम सब बच्चे और कौन?

इन पंक्तियों को पढ़ कर कहीं आपको यह तो नहीं लग रहा है कि कोई माँ अपनी बच्ची को कोई गीत या लोरी सुना रही है। तनिक घर की देहरी पार कर पाठशाला के भीतर चले आएँ तो तसवीर एकदम साफ़ हो जाएगी। जी हाँ, अब आपका अनुमान एकदम सही है। यह गीत दूसरी कक्षा के बच्चे अपनी अध्यापिका के साथ मिलकर गा रहे हैं। ये वही बच्चे हैं जो कभी सलमा को देखकर कहते थे–

डेढ़ टाँग पर चलती कौन?
सलमा रानी और कौन?
हम सब खेलें खेल कौन-सा?
लंगड़ी टाँग और कौन-सा?

आप समझ ही गए होंगे कि सलमा उन बच्चियों में से है, जो किसी एक मामले में सामान्य से थोड़ा सा हटकर हैं। उसके पैर में पोलियो है जिसके कारण उसका चलना फिरना कुछ अलग ढंग से हो पाता है। यह बात सलमा के घर वालों के लिए चिंता का सबब बनी हुई थी। सगे-संबंधी इस चिंता को बढ़ाने का काम करते जब वे कहते, "करेला दूजा नीम चढ़ा। एक तो लड़की ऊपर से ...।" परिवार वालों ने हिम्मत बटोरी और प्रण कर लिया चाहे आने-जाने को लेकर कितनी भी परेशानी क्यों न हो सलमा स्कूल तो ज़रूर जायेगी। जब सब बच्चे जाते हैं तो सलमा क्यों नहीं?

स्कूल का आवेदन पत्र भरते समय सलमा के पिता के हाथ काँप रहे थे। आवेदन पत्र पर लिख तो सलमा का नाम रहे थे पर उस पर उन्हें सलमा की तसवीर नज़र आ रही थी जो स्कूल के गेट से आते हुए कभी गिरते दिखाई दे रही थी तो कभी खेल के मैदान में इधर-उधर कूदते-फाँदते बच्चों के बीच अकेली असहाय सी खड़ी नज़र आती।

एकबारगी तो उनका मन हुआ कि वे वापिस चले जाएँ पर स्कूल को विस्मयभरी निगाहों से देखती सलमा को देख निर्णय ले ही लिया और सलमा नगर निगम प्राथमिक विद्यालय डी.डी.ए. स्लम कालका जी, नयी दिल्ली की विद्यार्थी बन गई।

यहाँ मिली उसे संगीता मैम जो सिर्फ़ पढ़ने-पढ़ाने का ध्यान नहीं रखती, बल्कि इस बात के लिए भी सचेत रहती कि सलमा को शौचालय कब और कैसे जाना है? खेल के मैदान में वे सलमा के बारे में जागरूक रहतीं। शुरू-शुरू में बच्चों को बड़ा अटापटा लगा कि सलमा भी उनके साथ खेलेगी। उन्होंने चिढ़ाना भी शुरू किया पर जल्दी ही वे समझ गए कि कक्षा के सभी बच्चों को एक साथ मिलकर खेलना है और उनमें सलमा भी शामिल है। अध्यापिका का प्रयास कहें या उनकी स्वयं की संवेदनशीलता वे स्वत: ही अपने खेलों में कुछ ऐसी फेरबदल करते कि सलमा के लिए सहज भाव से खेल में शामिल होना आसान हो जाता। जब कभी स्कूल से पिकनिक जाती तो वे पहले ये तय करते कि सलमा की टोली में कौन-कौन होगी। हालाँकि सलमा की माँ ने उसे कभी पिकनिक पर जाने नहीं दिया।

माँ ने भले ही सलमा को पिकनिक पर जाने नहीं दिया पर बच्चे घर बैठे ही उसे आँखों देखा हाल सुनाकर सैर करा देते। हाल भी कुछ इस तरह सुनाते कि सलमा हँस-हँस कर दुहरा जाती।

निगम की ओर से होने वाली मेधावी की परीक्षा में सलमा जाए या न जाए इस ऊहापोह में संगीता मैम को रास्ता सूझ ही गया। एक बच्चे के पिता टैक्सी चलाते थे। वे मेधावी की परीक्षा दिलाने सलमा को ले गए। जानते हैं फिर क्या हुआ। स्कूल की फिजाँ में स्वर लहरियाँ झंकृत हो उठी-

मेधावी में फर्स्ट आए कौन?

सलमा रानी और कौन?

प्राथमिक पाठशाला का सफर तो बढ़िया गुज़रा। सलमा और उसके परिवारवालों का आत्मविश्वास बढ़ गया था।

अगला चरण शुरू हुआ राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, डी.डी.ए. फ्लैट्स फेज-2 कालका जी, नयी दिल्ली।

इस विद्यालय की इमारत के भीतर दाखिल होते ही सलमा का आत्मविश्वास डगमगा गया। तीन मंजिला इमारत, सीढ़ियों पर होती धक्का-मुक्की। मेज और बैंच जुड़ी हुई, शौचालय भी मुख्य भवन से दूर, खेल के मैदान में छोटी-बड़ी लड़कियों कर हूजूम, कहीं वॉलीबॉल खेलती लड़कियाँ तो कहीं सर्राटे से स्केटिंग करती लड़कियाँ। यहाँ पहली बार सलमा को अपने पोलियोग्रस्त पैर को लेकर लाचारी महसूस हुई। एक तरफ तो उसका मन होता कि वह चहचहाती हुई लड़कियों के हुजूम में शामिल हो जाए तो दूसरी तरफ घिसट-घिसट कर बैसाखी के बल पर चलने का अहसास होते ही गिर पड़ जाने और कुचल जाने की आशंका भी हुई।

उसके चेहरे के भावों को समझा दाखिला आवेदन पत्र भरवाने वाली बनप्पी मैडम ने। हौले से उसका हाथ दबाया और कहा, "एक बार आकर तो देखो। सब अपना-सा लगेगा"

बनप्पी मैडम की हौसला-अफ़जाई ने रंग दिखाया। सलमा विद्यालय आने लगी। राहें मुश्किल थीं पर हौसलें बुलंद हों और सबका साथ तो फिर मुश्किलों के बारे में सोचना क्या।

विद्यालय के प्रवेश द्वार से मुख्य भवन दूर और वो भी उबड़-खाबड़। कई बार गिरते हुए, चोटें लगी, माँ का दिल काँपा, स्कूल भेजने से मनाही हुई पर सहपठियों ने जो मोर्चा थामा तो रास्ते खुल गए।

साइकिल से पिता स्कूल तक छोड़ते, प्रवेश द्वार से मुख्य भवन तक ले जाने के लिए सहपाठिनें खड़ी मिलती। प्रात:कालीन सभा में अधिक देर खड़ा रहना संभव न था तो सीधे कक्षा में चली जाती। हालाँकि सलमा का मन करता कि वह वहाँ मौजूद रहे1 सहपाठिनों ने प्रयास किया कि एक कुर्सी वहाँ लगा दी जाए। सलमा वहाँ बैठ कर अपनी सहभागिता दर्ज करे पर सवाल उठे- राष्ट्रगान के समय क्या होगा, प्रतिज्ञा के समय कैसे उठेगी? सहपाठिनों ने सोचा कि सलमा की गरिमा व ज़रूरत से बढ़कर है क्या राष्ट्रगान? पर वे तर्क न कर सकीं?

पाठकों, इस पर आप भी विचार करें और अपनी राय ज़रूर भेजें।

सलमा की तीन कक्षाएँ तो नीचे की मंजिल पर ही तय हुई। अब थी नवीं से बाहरवीं तक कक्षाएँ जो दूसरी व तीसरी मंजिल पर थीं। सलमा सहित सहपाठियों के मन में सवाल कुलबुलाए कि क्या ये कक्षाएँ मेरी खातिर नीचे नहीं आ सकती पर सवाल करने की हिम्मत नहीं जुटा सकीं। भले ही विद्यालय प्रशासन से कहने की हिम्मत नहीं हुई कि कक्षाएँ ही नीचे ले आओ पर सलमा को सीढ़ियों से ऊपर पहुँचाने व सुरक्षित नीचे लाने का साहस कक्षा की सभी सहपाठिनों में था इस तरह सलमा अगले पड़ाव की ओर चल पड़ी।

मध्यावकाश में क्या नीचे आएँ खेल के मैदान में? ये सवाल यक्ष की तरह सबके सामने था। मात्र 30 मिनट का अवकाश। इतना समय तो चढ़ने-उतरने में लग जाएगा। चलो छोड़ो। सहपाठियों ने तय किया कि वे भी नीचे नहीं जाएगीं, वहीं पर बरामदे में खेलने-कूदने का निर्णय ले लिया गया। पर ये विचार ज़्यादा कारगर नहीं हुआ क्योंकि खेलकूद से उपजे शोर (?) को स्टॉफ रूम में बैठी अध्यापिकाएँ सहन नहीं कर पाईं। अब क्या करें? पाँच सहपाठिनें सलमा के साथ रहतीं वे नीचे जातीं। सलमा को बुरा न लगे तो कहतीं, "आज नीचे जाने का मन नहीं है आज कक्षा में बैठना है सुस्ताना है।" सलमा समझ जाती कि यह उसकी रखवाली के लिए एक बहाना भर किया जा रहा है। उसे अच्छा लगता कि उसका ख्याल रखने वाले कितने सारे लोग हैं।

सलमा खेलकूद प्रतियोगिता में तो भाग न ले सकी क्योंकि खो-खो, कबड्डी, वॉलीबॉल, दौड़ सभी कुछ उसके बूते के बाहर था पर वह मंडलीय स्तर निबंध लेखन प्रतियोगिता में प्रथम आई। दसवीं की परीक्षा में 86 प्रतिशत अंक आए और हिंदी विषय में विशेष अंक लाने पर हिंदी अकादमी द्वारा भी सलमा को सम्मानित किया। सलमा के लिए आगे बढ़ने की राहें खुलती गईं और बाहरवीं भी प्रथम श्रेणी से पार हो गई।

आज सलमा मंडल शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान सैक्टर-7, आर. के. पुरम् नयी दिल्ली में अध्यापक शिक्षा का प्रशिक्षण ले रही हैं।

यहाँ भी सीढ़ियाँ हैं। कभी इधर तो कभी उधर जाना होता है, प्रायोगिक कार्य हैं पर अब कुछ बाधाजनक नहीं लगता। सलमा का कहना है कि वह इस कोर्स में इसलिए आई थी कि नौकरी लगेगी माता–पिता को मेरी चिंता सताएगी। पर अब वह कहती है कि मेरी सोच बदली है। मैं नौकरी इसलिए करूँगी, जिससे कि मैं स्कूली व्यवस्था में उन सब बदलावों के लिए सवाल उठाऊँ, जो हर बच्चे को सुविधा व गरिमामय जीवन देने के लिए ज़रूरी है। वह अपने अभिभावकों, सहपाठिनों व अध्यापकों का तहेदिल से शुक्रिया अदा करती है। वह उन लोगों के प्रति भी शुक्रगुज़ार है, जिन्होंने उसे जाने–अनजाने चोट पहुँचाई है क्योंकि उसका कहना है कि इससे उसे मज़बूती मिली है और चुनौतियों के सामने डटकर खड़े होने की ताकत पैदा हुई है।